International Journal of Education and Science Research Review
E-ISSN 2348-6457
July- 2019, Volume-6, Issue-4 P-ISSN 2349-1817
www.ijesrr.org Email- editor@ijesrr.org

भगीरथ मिश्र की आलोचना दृष्टि

डॉ. नागेश्वर यादव
विभागाध्यक्ष हिन्दी
होजाई कॉलेज,होजाई,असाम,782435

शोध-सारांश-

हिन्दी आलोचना की उर्वर जमीन तैयार कर उसे पल्लवित-पुष्पित करने में जिन छोटे-बड़े आलोचकों का विशेष योगदान रहा है,उनमें भगीरथ मिश्र भी एक हैं। परन्तु इनके कार्यों का जिस प्रकार से मूल्यांकन होना चाहिए था, उस प्रकार से अभी तक हुआ नहीं है। कुछ सुधीजन तो इन्हें आलोचक की कोटि में परिगणित करने में भी हिचकिचाते हैं। भगीरथ मिश्र की आलोचना दृष्टि का प्रतिफलन साहित्य जगत् में किस प्रकार से हुआ, उनकी इस दृष्टि को विकसित करने में किन-किन गतिविधियों का योगदान रहा है तथा हिन्दी साहित्य की विकास परम्परा का सतर्क, सूक्ष्म और विवेकपूर्ण मूल्यांकन करते हुए उसके सार तत्त्वों को पूरी शक्ति और आत्म विश्वास के साथ प्रस्तुत करने में मिश्रजी को कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है आदि तथ्यों पर विचार करते हुए उनकी आलोचना दृष्टि पर प्रकाश डालना ही प्रस्तावित शोधपत्र का मूल उद्देश्य है।

बीज शब्द-

आलोचना-(किसी वस्तु,व्यक्ति या रचना में निहित गुण-दोष का सूक्ष्म निरूपण या विवेचन करना), दृष्टि-(देखने का अवलोकन करने की क्षमता),परम्परा-(चला आता हुआ अविरल क्रम), विषयगत-(काव्य का संवेदना पक्ष),शिल्पगत-कलापरक)

हरेक आलोचक की आलोचना दृष्टि उसकी मूक साहित्य-साधना का परिणाम माना जाता है। किसी कृति के अनुशीलन के उपरांत आलोचक के मन में जो भाव, विचार एवं दर्शन उत्पन्न होते हैं उनमें आलोचक का साहित्यिक व्यक्तित्व, प्रतिभा, सौन्दर्यबोध, सम्वेदना और विश्वदृष्टि शामिल होती है। आलोचक के मानस में जीवन औऱ जगत् को देखने और अनुभूत करने की यह दृष्टि उसकी रुचि, प्रतिभा,प्रेरणा और परिवेश पर निर्भर करती है। आलोचक अनेक प्रकार की रचनाएँ करता है या कर सकता है। उसकी रचनाओं में विधागत एवं विषयगत वैविध्य हो सकते हैं। कभी एक ही विधा में रचित विविध रचनाओं में विषय और शिल्पगत विविधताएँ हो सकती हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक रचना में गृहित समस्या और उत्पन्न निष्कर्ष भी भिन्न हो सकते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रत्येक रचना में रचनाकार अलग-अलग सर्जक व्यक्तित्व लेकर प्रस्तुत होता है या उसकी चेतना खण्डित चेतना होती है। वह तो अपने अखण्ड और अविच्छिन्न संवेदनात्मक व्यक्तित्व को अपनी प्रत्येक रचनाओं में स्थापित करते चलता है। कारण ? यह कि प्रत्येक प्रयोग की अवस्था में उसका मानस ही उसका नियंत्रक होता है। मानस में जीवन और जगत् को देखने और अनुभूत करने की एक दृष्टि होती है, जो मूल जीवन द्रव्य की भाँति उसकी प्रत्येक कृति में विद्यमान रहती है।

इस प्रकार ‘‘साहित्य के क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों तथा दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।’’[1] तथा देखने-परखने और अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया, प्रवृत्ति आदि ‘दृष्टि’ कहलाती है।

किसी भी आलोचक के साहित्यिक व्यक्तित्व या कहें उसकी आलोचना दृष्टि का प्रतिफलन उसके द्वारा रचित ग्रंथों, निबन्धों एवं सम्पादित ग्रन्थों आदि के माध्यम से ही होता है। मिश्रजी भी इसके अपवाद नहीं हैं। अर्थात् उनकी आलोचना दृष्टि को विधिवत् समझने के लिए उनकी प्रमुख रचनाओं (सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक) से रू-ब-रु होना जरुरी है। उन्होंने अपने जीवन काल में ‘हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास’, ‘काव्य शास्त्र’, ‘काव्य मनीषा’, ‘पाश्चात्य काव्य शास्त्र’ तथा ‘काव्यरस : चिन्तन और आस्वाद’ जैसे काव्य शास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन किया है, जिनमें उनका सुलझा हुआ अध्यापकीय आचार्य रुप निखरने के साथ-साथ आत्मविश्वास से युक्त, प्रौढ़, समन्वयशील आलोचक का रुप भी सामने आया है। ‘हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास’, ‘हिन्दी रीति साहित्य’ जैसे ग्रंथों में तो इनका इतिहासकार रुप ही अधिक सजग एवं सचेत रहा है, परन्तु जिस प्रकार से उन्होंने विषय वस्तु का उपस्थापन एवं उसका विवेचन-विश्लेषण तथा मूल्यांकन किया है, उससे उनके आलोचक व्यक्तित्व का आभास भी

पाठक को बराबर मिलते रहता है। 'अध्ययन', 'साहित्य–साधना और समाज' तथा 'कला, साहित्य और समीक्षा' मिश्रजी द्वारा समय-समय पर लिखे गए निबन्धों के संग्रह हैं। इन कृतियों से होकर गुजरने वाले पाठक मिश्रजी की अध्ययन,अनुशीलन और चिन्तन की प्रवृत्ति से भली-भाँति परिचित हैं। 'निराला काव्य का अध्ययन' और 'महाकवि तुलसीदास और उनका युग सन्दर्भ' में मिश्रजी की व्यावहारिक समीक्षा का उत्कृष्ट रुप स्पष्ट हुआ है। 'निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुलसीदास निरंजनी', 'तुलसी रासायन', 'श्रृंगार मंजरी', 'नामदेव की हिन्दी पदावली', 'पृथ्वीराज रासो के दो समय', 'साहित्य निकष' आदि ग्रंथों का सम्पादन कर अपने सारग्राही और अध्ययनशील व्यक्तित्व का परिचय दिया है। 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' के छठे भाग के चौथे अध्याय तथा 'हिन्दी विश्व कोश' में कुछ शब्दों पर विचारपूर्वक टिप्पणी करके अपने बहुपठित व्यक्तित्व की झाँकी प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में मिश्रजी की जो आलोचना दृष्टि विकसित हुई है, उसके सूत्र को पकड़ने के लिए सर्वप्रथम उनकी साहित्यिक मान्यताओं को समझ लेना जरुरी है। वे साहित्य को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि – "साहित्य मनुष्य के अनुभव और ज्ञान का वह रुप है जो लिपिबद्ध होकर हमारे सामने आता है या सुरक्षित रहता है।"[2] उनकी दृढ़ मान्यता रही है कि साहित्य में उन्हीं भावों को वरीयता दी जानी चाहिए जो सत्य और सौन्दर्य से युक्त होते हैं। सत्य से रहित जीवन निरुद्देश्य और प्रेरणा-रहित हो जाता है। आज युवकों में जो निराशा, दिशाहीनता और भटकाव की प्रवृत्ति बढ़ रही है उसका एक कारण यह भी है कि हम आज की परिस्थितियों के अनुकूल उन्हें कोई ठोस आधार नहीं दे पा रहे हैं, जो सत्य और सौन्दर्य पर आधारित हों। सत्य की खोज, सत्य का अन्वेषण, सत्य की परख और सत्य का ग्रहण मनुष्य जीवन का पुरुषार्थ है। किन्तु दार्शनिक का सत्य, वैज्ञनिक का सत्य, समाज सुधारक का सत्य और साहित्यकार के सत्य में पर्याप्त भिन्नता होती है। "दार्शनिक का सत्य हमारे बौद्धिक जगत् को प्रभावित करता है और वैज्ञानिक का सत्य भौतिक जगत् को, किन्तु हमारे भाव एवं कल्पना जगत् को आन्दोलित, विकसित, परिष्कृत एवं परिवर्तित करने वाला सत्य कवि का है।"[3] कवि का सत्य या काव्य- सत्य की महत्ता पर विचार करते हुए मिश्र जी आगे लिखते हैं- "दार्शनिक का सत्य सर्वजन ग्राह्य नहीं है और वैज्ञानिक का सत्य पदार्थगत, भौतिक एवं बाह्य है। एक में गहराई है किन्तु सुगमता एवं सरलता नहीं, दूसरे में सुख है किन्तु आनन्द, अभ्यांतर-प्रवेश-क्षमता, सौन्दर्य तथा रमणीयता नहीं। अर्थात् सामान्य शारीरिक एवं बौद्धिक आवश्यकताओं के पश्चात् जो विशेष प्रभाव डालने वाला सत्य है, वह कवि का सत्य है, काव्यगत सत्य है।"[4] यह सत्य अन्य सत्यों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक प्रभावोत्पादक एवं स्थाई होता है। इतिहास गवाह है कि युग के मुताबिक सत्य का स्वरुप बदलते रहता है, किन्तु अन्य सत्य (वैज्ञानिक एवं दार्शनिक) जितने शीघ्र तिरष्कृत एवं अनुपयोगी हो जाते हैं, उतने शीघ्र काव्यगत सत्य नहीं। काव्यगत सत्य युगानुरुप बदलने के बावजूद भी क्यों स्थाई होता है उस पर विचार करते हुए मिश्रजी लिखते हैं–"अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य को संजोये रहने के कारण उसका आकर्षण, उसकी आभा कभी नितान्त फीकी नहीं पड़ती, दूसरे आकर्षक एवं रंगीन स्वरुप को सामने पा कर कुछ धीमी चाहे भले पड़ जाये। युग-युगान्तर में ग्रहण किये गये काव्यगत सत्य,विभिन्न मणियाँ हैं, जिनके सूत्र बदलते रहते हैं। किसी युग में यदि उन्हें पिरोने वाला सूत्र भक्ति है तो, दूसरे युग में श्रृंगार एवं विलास का। एक युग में वह करुणा का है, तो दूसरे युग में देश-प्रेम का। एक युग में वही सूत्र समाज सुधार का है तो दूसरे युग में साम्यवाद का। इस प्रकार सूत्र पुराने अवश्य होते हैं, पर मणियों की चमक–दमक थोड़े प्रयास करने पर वैसी ही बनी रहती है। यही दशा काव्यगत सत्य की भी है। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सिद्धान्त यदि अगामी युग में असत्य सिद्ध हो गए, तो फिर उनका कोई मूल्य नहीं, आगे का युग उसे ग्रहण नहीं करेगा, पर काव्यगत सत्य कभी नितान्त तिरष्कृत नहीं होता।"[5] अपने युगीन परिवेश एवं परिस्थिति के अनुकूल कवि या साहित्यकार खोजे हुए सत्य के नग्न ढ़ाँचे को ज्यों का त्यों पाठक से सामने परोस नहीं देता, अपितु उसे सरस, सजीव बनाने के लिए उचित मात्रा में कल्पना का रंग मिलाता है। यानी कवि या साहित्यकार के लिए सबसे अधिक चुनौति भरा कार्य है- "सत्य को अपने मूल चारुत्व में ग्रहण कर उसकी अपने सहज सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्ति प्रदान करना।"[6] ताकि आने वाली पीढ़ी उससे दिशा निर्देश प्राप्त कर अपने वर्त्तमान एवं भविष्य को सुन्दर एवं सुखमय बना सके। भारतीय साहित्य में सत्यं शिवं सुन्दरम् की परिकल्पना इसी तथ्य की ओर इंगित करता है।

मिश्रजी काव्य के सन्दर्भ में रमणीयता पर अधिक जोर देते हैं। "रस, गुण, अलंकार, रणणीयता के ही विभिन्न साधनों के रुप हैं।"[7] उनके अनुसार रमणीयता भाव तत्त्व और कल्पना तत्त्व दोनों का सम्मलित रुप है। वे काव्य में रमणीयता को विशेष महत्त्व देते हुए भी रस को सर्वोपरि मानते हुए

कहते हैं कि- ‘‘रमणीयता किसी वस्तु का वह गुण है जो द्रष्टा को आकृष्ट करता है, किन्तु यह आकर्षण अन्तत: द्रष्टा को पूर्ण तादात्म्य की स्थिति में ले जाता है। यही रसानुभूति की स्थिति है।’’[8] आशय यह कि मिश्रजी काव्य में संवेदना (कथ्य) की उत्कृष्टता, सहजता, सरलता पर विशेष जोर तो देते हैं,परन्तु इस संवेदना को बोधगम्य, ग्राह्य और सम्प्रेषित करने वाले भाषा, छन्द,लय,तुक,बिम्ब-प्रतीक आदि शिल्पगत विशेषताओं को भी नजरअंदाज नहीं करते हैं।क्योंकि इन्हीं के माध्यम से कवि के भाव-विचार एवं दर्शन पाठक तक पहुँचते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ और विश्वनाथ की ही तरह मिश्रजी काव्य में रस को काव्य का अपरिहार्य अंग स्वीकार करते हुए ‘सुरसरी सम सब कर हित होई’[9] तथा सत्यानुभूति की अभिव्यक्ति करने वाले साहित्यकारों को श्रेष्ठ और महान साहित्यकारों की कोटि में परिगणित करते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास का सम्मान इसी कारण है कि उन्होंने जो जीवन का सत्य है, उसको सिर्फ स्पष्ट ही नहीं किया है वरन् यथार्थ के उस नीरस ठूँठ को कल्पनागत आदर्श से पल्लवित-पुष्पित, हरा-भरा और लहलहा कर दिया है। ‘‘कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।।’’[10] की घोषणा करने वाले गोस्वामीजी मानो इस तथ्य से परिचित थे कि साहित्य का प्रभाव सदैव स्वाभाविकता एवं यथार्थता के कारण ही होता है और जो रचनाएँ जीवन से अलग केवल कल्पना के आधार पर लिखी गईं हैं, उनका सामुहिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं, वे उसे बल नहीं दे सकती। जिनसे जीवन को बल मिले वही साहित्य है, वही रचनाएँ हमारे काम की हैं।

मानव जीवन में साहित्य की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए मिश्रजी ने लिखा है कि- ‘‘सम्मानपूर्वक स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए साहित्य का सेवन आवश्यक है। इसके द्वारा हमारे भीतर एक समान सोचने-समझने की शक्ति उत्पन्न होती है, एक सी अनुभूति का संचार होता है और हमारा समाजिक जीवन एक सूत्र में बँधकर अधिक संस्कृत होता है।’’[11] साहित्य-सेवन से मनुष्य का मन परिष्कृत और हृदय उदार होता है, किन्तु आज नवीनता के नाम पर धडाल्ले के साथ कुछ ऐसे अधकचरे साहित्य रचे जा रहे हैं, जिनमें न तो अनुभूति की प्रामाणिकता ही है और न ही सम्वेदनात्मक ज्ञान का प्रसार। साहित्य में जीवन और जगत् के गतिशील सौन्दर्य के साथ नूतन आनन्द और जगत-कल्याण की भावना ढूँढ़ने वाले पाठक को निराशा हाथ लगती है। निराशा के कारणों की पड़ताल करते हुए मिश्रजी लिखते हैं- ‘‘सामाजिक और साहित्यिक दोनों प्रकार की सफलता के लिए साधना चाहिए। सामाजिक कार्यों की साधना त्याग, परोपकार आदि गुणों की अपेक्षा ऱखती है और साहित्यिक साधना निस्पृह संवेदनशीलता और भावात्मक तन्मयता की।’’[12] प्रेमचन्द या निराला का साहित्य सर्वजन ग्राह्य और लोकप्रिय इसलिए बन पाया क्योंकि उनमें संवेदनशीलता का भावात्मक प्रसार असली था, बनावटी नहीं। इन साहित्कारों की लेखनी से जिन पात्रों का सृजन हुआ है, वे इसी यथार्थ दुनिया के पात्र हैं। उन पात्रों एवं घटनाओं के बीच इन साहित्यकारों ने अपने आप को प्रस्थापित कर मानसिक धरातल पर पहले स्वयं भोगा है, उसके बाद उनका शब्दचित्र अंकित किया है। अपनी भावनाओं, मान्यताओं अथवा विचारों को कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करने के लिए इन साहित्यकारों ने व्यक्तिगत राग-द्वेष से उपर उठकर व्यापक और उन्नत भावबोध की अभिव्यक्ति पर बल दिया है।

जब कोई साहित्यकार इस धरातल पर पहुँचकर काव्य की रचना में प्रवृत्त होता है तो उसकी रचना में शुरु से अंत तक जन मंगल या सामाजिक कल्याण की भावना परिलक्षित होती है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए मिश्रजी लिखते हैं- ‘‘मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज के युग में साधना के साथ-साथ समाजिक दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है। हमें वही साहित्य चाहिए जो साधना-प्रसूत और सामाजिक जागरुकता से सम्पन्न हो।’’[13] इस संदर्भ में वे संत कवियों के सामाजिक आदर्श, जो जाति भेद, वर्ण भेद और धर्मभेद से परे सामाजिक साम्य की नीति पर आधारित थी, उसका हवाला देते हुए तुलसीदास के समाजवाद की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखते हैं –‘‘तुलसी के सामाजिक आदर्शों की समस्त कल्पना चाहे हमें आज की परिस्थिति में पूर्ण रीति से मान्य न हो, किन्तु इतना हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि उनके आदर्शों में आधुनिक समाजवाद के बीज तत्त्व विद्यमान है।’’[14] आज युग के बदलने के साथ-साथ जीवन सम्बन्धी बहुत सी मान्यताएँ भी बदल गई हैं, फिर भी तुलसीदास द्वारा निर्देशित उदात्त दृष्टिकोण से प्रभावित हुए बिना आज का समाज नहीं रह सकता।

हिन्दी काव्य जगत् में छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की महत्ता से सभी परिचित हैं किन्तु मिश्रजी अपनी उदार दृष्टि और समन्वयशील व्यक्तित्व के बावजूद भी इन वादों के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाए हैं। कारण ? यह कि वे ‘‘इन आधुनिक ‘वादों’ मे कोई ऐसी तात्विक वस्तु नहीं

देखते जो काव्यशास्त्र की मर्यादा या सीमा में विस्तार करने वाली हो"[15] परन्तु उनके मत के विपरीत सभी ने माना है कि छायावाद की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना, प्रगतिवाद की जन चेतना और प्रयोगवाद की नवीन सौन्दर्य विधायक तत्त्वों के सन्निवेश का ही परिणाम है कि साहित्य जगत् में मनोवैज्ञानिक, वस्तुवादी और सौन्दर्यवादी विमर्श के नये-नये आयाम विकसित हुए। इस सन्दर्भ में डॉ. रामचन्द्र तिवारी का कथन अवलोकनीय है- "डॉ. मिश्र को आधुनिक वादों का शास्त्रीय अनुशीलन कुछ अधिक सहानुभूति के साथ करना चाहिए था।"[16]

यों तो मिश्र जी ने कबीरदास, केशवदास, मतिराम, बिहारी, पद्माकर, प्रेमघन, सत्यनारायण 'कविरत्न', मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कृष्णबिहारी मिश्र, वृन्दावनलाल वर्मा, द्वारिकाप्रसाद मिश्र जैसे अनेक कवियों एवं लेखकों के सम्बन्ध में अपने आलोचनात्मक विचार यत्र-तत्र प्रकट किए हैं, किन्तु उनकी व्यावहारिक आलोचना का चरम रुप 'निराला काव्य का अध्ययन' और 'महाकवि तुलसीदास और उनका युग सन्दर्भ' नामक कृतियों में दिखाई देता है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि मिश्रजी मानव जीवन का यथार्थ चित्रण करने वाले साहित्य को शाश्वत साहित्य मानते हैं और उसमें निहित भावों को अपने युगीन परिवेश एवं परिस्थिति के अनुकूल व्याख्यायित करते हैं। निराला का साहित्य उन्हें इसी भाव-भूमि पर आधारित दिखाई देता है। वे मानते हैं कि "मानवता धर्म ही निराला जी का सहज धर्म रहा है। निराला जी का काव्य, इस मानवता की व्याख्या, स्थापना और विकास कर जन जन के कल्याण का मार्ग खोलने की अमर गाथा है। उनका समस्त जीवन दर्शन ही मानवतावादी था।"[17] सारांश यह कि मूल्यों की दृष्टि से निराला का काव्य उन्हें अत्यंत समृद्ध दिखाई देता है। इसका पहला कारण तो यह है कि उनके काव्य में शुरु से अंत तक सामाजिक उत्थान की चेतना हिलोरें ले रही है, इसी चेतना के भीतर से क्रान्ति का बीज अंकुरित हो रहा है, जो नव जीवन का निर्माण के लिए आतुर है। दूसरी बात यह कि वे कल्पना के कुहूक जाल में विचरण न करके जीवन के कठोर धरातल से अपना रिश्ता बनाए रखने मे सफल रहे हैं। उन्होंने समाज में व्याप्त घोर अन्याय, अत्याचार एवं विषमता तथा गरीबी का चित्रण एक अप्रतीम विद्रोही, संघर्षशील और क्रान्तिधर्मी कलाकार की हैसियत से निडरतापूर्वक किया है।

मिश्रजी की व्यावहारिक आलोचना का सबसे निखरा हुआ रुप 'महाकवि तुलसीदास और उनका युग सन्दर्भ' नामक कृति में दिखलाई देता है। इसमें उन्होंने तुलसीदास का जीवन दर्शन, उनका परिवेश,परिस्थिति तथा उनके काव्य-कला का विवेचन-विश्लेषण बड़े ही सन्तुलित एवं पूर्वाग्रह रहित होकर किया है, जो चार खण्डों में विभक्त है। तुलसीदास के उपर मिश्रजी ने इतनी विस्तृत एवं व्यापक व्यावहारिक आलोचना क्यों लिखी उसका खुलासा करते हुए वे लिखते हैं- "प्रस्तुत योजना का मुख्य उद्देश्य हिन्दी के आधार स्तम्भ साहित्कारों के व्यक्तित्व और कृतित्व का खोजपूर्ण एवं आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना।"[18] इनके पहले विन्सेन्ट ए. स्मिथ (Vincent A. Smith)अपनी पुस्तक अकबर दि ग्रेट मुगल(Akbar, The Great Mughal) में तुलसीदास के महान् व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि- "तुलसीदास अपने युग में भारतवर्ष के सबसे महान् व्यक्ति थे, अकबर से भी बढ़कर, इस बात में कि करोड़ों नर-नारियों के हृदय और मन पर प्राप्त की हुई कवि की विजय सम्राट की समस्त विजय की अपेक्षा अधिक चिरस्थाई और महत्वपूर्ण थी।"[19]

मिश्रजी ने तुलसीदास को सर्वांगजीवन का कवि माना है, जो साहित्य और कला के केन्द्र में जीवन को रुपायित किया है, ऐसा जीवन जो विपरीत परिस्थितियों में भी वर्तमान और भविष्य के लिए दिशा-निर्देश देने की क्षमता रखता हो। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'साहित्य–साधना और समाज' में वे इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि साहित्य की साधना जीवन की पूर्णता के लिए अधिक आवश्यक है, क्योंकि इसके द्वारा समाज का मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति सम्भव हो पाता है।

'अध्ययन' तथा 'कला, साहित्य और समीक्षा' मिश्र जी के निबन्ध संग्रह हैं, जिसमें उनकी आलोचना दृष्टि के बीज बिखरे पड़े हैं। इन आलोचनात्मक निबन्धों में मिश्रजी की दृष्टि की वैज्ञानिकता, परिष्कृत रुचि तथा संतुलित जीवन दृष्टि सर्वत्र परिलक्षित होती है। उनके स्फुट व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्ध इसी संग्रह में संकलित हैं।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होनी चाहिए कि मिश्रजी की 'आलोचना दृष्टि' सामन्जस्यमयी दृष्टि का परिणाम है। अर्थात् एक ओर वे प्राचीन एवं नवीन तथा भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों के सारभूत तत्वों को ग्रहण करके एक संतुलित समाज-सापेक्ष किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि का विकास करना चाहते थे तो दूसरी ओर अपनी स्वतंत्र उद्भावना-शक्ति और अध्ययनशील व्यक्तित्व के बल पर परम्परा से हटकर कुछ नया करने और कहने का साहस रखते थे। 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है कि –"वहाँ काव्य की समग्र विवेचना के लिए वैसे सिद्धान्तों और मानदण्डों का निर्माण नहीं हुआ जैसा कि संस्कृत–साहित्य के अंतर्गत हुआ है। फिर भी, कुछ पाश्चात्यवाद ऐसे हैं जिनका उपयोग हम काव्य की आलोचना के प्रसंग में कर सकते हैं।"[20] और उन्होंने भारतीय साहित्य को मूल्यांकित करने के लिए समन्वयवादी दृष्टिकोण का सहारा लिया। अंत में यही कहा जा सकता है कि मिश्रजी की स्थापनाओं से सुधीजन सर्वत्र सहमत न भी हों किन्तु उनकी मूल दृष्टि, जो जनकल्याण पर आधारित है, कि जन-सामान्य के सुख-दुख, योग-क्षेम, जय-पराजय का मूल स्रोत यथार्थ जगत् है और यथार्थ जगत् की समस्याएँ समाज की स्थिति और व्यवस्था से जुड़ी होती हैं। इसीलिए ऐसी व्यवस्था के विरुद्ध निडरतापूर्वक आवाज उठानी चाहिए, जो जन-सामान्य के हितों की उपेक्षा करती हों तथा उन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना चाहिए जिनमें जन-मंगल की भावना निहित होती है।।

संदर्भग्रंथ सूची-

1. साहित्यालोचन, डॉ. श्यामसुन्दर दास, ना. प्र. सभा,काशी प.सं. 318
2. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, पृ.सं.46
3. अध्ययन, साहित्य पुस्तक भवन अमीनावाद, लखनऊ, प.सं. 4
4. पूर्ववत् पृ,सं, 4
5. पूर्ववत् पृ,सं, 8
6. पूर्ववत् पृ,सं, 10
7. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसीपृ.सं20
8. हिन्दी का गद्य- साहित्य, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी पृ. सं. 696-97
9. रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस , गोरखपुर, पृ. सं. 14
10. पूर्ववत् पृ.सं. 14
11. अध्ययन, साहित्य पुस्तक भवन अमीनावाद, लखनऊ, प.सं. 104
12. पूर्ववत् पृ.सं. (भूमिका से)
13. साहित्य साधना और समाज, अवध पब्लिशिंग हाउस, पानदरीबा, लखनऊ, पृ.सं. (क) भूमिका से
14. पूर्ववत्, पृ.सं.- 34
15. हिन्दी का गद्य- साहित्य, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी पृ. सं. 698
16. पूर्ववत्, पृ.सं. 698
17. निराला काव्य का अध्ययन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं. 73
18. तुलसी रासायन, डॉ.भगीरथ मिश्र,साहित्य भवन(प्रा.लि.) इलाहावाद-3 पृ.सं. 7 भूमिका से

19. पूर्ववत्, पृ.सं. 7 भूमिका से
20. काव्यशास्त्र, डॉ.भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी,पृ.सं-2